

जैनाचार : एक विवेचन

—राजोद्द मुनि शास्त्री, एम० ए०

सुखकामी मनुष्य और सुख का रूप

धर्माचार का मूल मन्तव्य यथार्थ सुख की प्राप्ति है। यहाँ यह अपेक्षित है कि सच्चे सुख के स्वरूप को पहचाना जाय और दुःख के साथ उस की आपेक्षिक स्थिति को भी समझा जाय। जैन साहित्य में इस विषय का विषद विवेचन उपलब्ध होता है। दुःख के कारणों की खोज की गई है और उनको निर्मूल करने के उपाय भी सुझाये गये हैं। दुःख के समाप्त हो जाने की स्थिति, सुखानुभव की प्राथमिक आवश्यकता है। जैन मान्यतायें दुःख के कारण रूप में 'कर्मबन्धन' को स्वीकारती हैं। इस बन्धन के क्षीण हो जाने पर ही वास्तविक और उत्तम सुख उपलब्ध होता है। इस विचार के समर्थन में निम्न उक्ति उल्लेखनीय है—

देशयामि समीचीनं धर्म-कर्मनिवर्हणम् ।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥^१

अर्थात्—“मैं कर्मबन्ध का नाश करने वाले उस सत्यधर्म का कथन करता हूँ जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तमसुख में धरता है।”

स्पष्ट है कि संसार में दुःख हैं। प्राणियों के अपने कर्म ही इन सांसारिक दुःखों के मूल कारण हैं और धर्म उन्हें दुःख-मुक्त कर उत्तम सुख की प्राप्ति करा सकता है। कौन सचेतन प्राणी सुख का परित्याग कर स्वेच्छा से दुःख का वरण करने को तत्पर हो सकता है? सभी की कामना सुख के

लिए ही होती है, प्रयत्न भी इसी दिशा में किये जाते हैं। यह बात अन्य है कि वे प्रयत्न उत्तमसुख के पक्ष में होते हैं अथवा नहीं और वे प्रयत्न समुचित होते हैं अथवा नहीं। यह सुख की लालसा दुःख की प्रतिक्रिया है। दुःख कदाचित् जागतिक जीवन का एक दृढ़ और कट्ट सत्य है। दुःख की परिधि से कोई बच नहीं पाया है। लौकिक दृष्टि से 'अभाव' दुःख का कारण है। अभाव की पूर्ति से ही सुख का आगमन भी मान लिया जाता है। अन्नाभाव के कारण क्षुधा का दुःख है और अन्न-प्राप्ति पर सुखानुभव होने लगता है। किंतु दुःखित तो अभावग्रस्त पाये ही जाते हैं; सम्पन्न जन भी किसी न किसी दुःख के शिकार रहते हैं। धनाधिक्य यदि भौतिक सुख की उपलब्धि कराता है तो सन्तानाभाव अथवा अन्य किसी कारण से मानसिक संताप बना रहता है। व्याधि भी दुःख का कारण हो सकती है, व्यावसायिक ऊँच-नीच से भी चिन्ता और मानसिक क्लेश संभव है। सार यह कि सामान्यतः दुःख इस जागतिक जीवन का एक अनिवार्य अंग है और मनुष्य का सुखकामी होना भी एक शाश्वत सत्य है।

प्रश्न यह है कि इस दुःख से छुटकारा पाने और सुख प्राप्त करने के लिए कारगर उपाय क्या है? भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये ४ साधन सुखार्थ सुझाये गये हैं। मोक्ष पारलौकिक सुख का साधन है। इहलोक के सुखों के लिये प्रथम ३ साधनों का विधान है। इन तीन

१ 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'—श्री समन्तभद्र स्वामी

साधनों में आदिस्थान धर्म को ही प्रदान किया गया है। वस्तुतः धर्म ही सुख प्रदान करने वाला प्रमुख और समर्थ साधन है। शेष अर्थ और काम तो गौण स्थान रखते हैं और इन दोनों साधनों में भी धर्म की संगति अनिवार्य रहती है। धर्मरहित अर्थ सुख नहीं, दुःखों का ही मूल कारण बनता है। सुख प्राप्त करना जीव का अनिवार्य स्वभाव है— इस प्रवृत्ति के अधीन होकर मनुष्य नीति-अनीति उचित-अनुचित का ध्यान किये बिना अधिकाधिक अर्थ-संचय में लग जाता है। वैभव-विलास के साधनों के अम्बार लग जाते हैं, उच्च अट्टालिकाओं का वह स्वामी हो जाता है। अपार धन-धान्य और स्वर्ण-माणिक्य से भरा-पूरा उसका प्रासाद अन्यजनों के लिए ईर्ष्या का कारण तक बन जाता है। उसे समाज में उचित प्रतिष्ठा भी प्राप्त हो जाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अधर्म से प्राप्त धन उसके मन को अशांत रखता है। बेईमानी से व्यवसाय करके यदि धन प्राप्त किया गया, तो उस धन को छिपाने की समस्या रहेगी। मनुष्य स्वयं को भी भीतर ही भीतर धिक्कारता रहता है कि अन्याय और अनीति के साथ ही उस ने यह धन प्राप्त किया है। ऐसी स्थिति में मानसिक असंतोष होना ही है और बाहर से उसका जीवन कितना ही सुखमय क्यों न प्रतीत हो, वास्तव में वह दुःख की ज्वाला में दग्ध रहा करता है। इसके विपरीत धर्माचरण सहित अर्जित धन मात्रा में चाहे कितना ही अल्प क्यों न हो, वह व्यक्ति को आत्मिक संतोष अवश्य देता है और यह मानसिक शान्ति उसके सुख का आधार बन जाती है। यह सुख स्थिरतायुक्त भी होता है और अन्तः-बाह्य दोनों रूपों में एक सा ही होता है। हाँ, सुख-सुविधाओं की मात्रा कम भले ही हो सकती है, किन्तु इससे सुख के यथार्थ स्वरूप को कोई हानि नहीं होती। इन लौकिक सुखों के साथ धर्म का नाता बड़ा प्रगाढ़ हुआ करता है। धर्म के बिना सुख की शून्यता ही प्रमाणित होगी।

यह तो चर्चा हुई लौकिक सुख की। किन्तु वास्तविकता यह है कि ये लौकिक सुख वास्तव में सुख होते ही नहीं। ये तो सुखों की छाया मात्र हैं। इन सुखों का अन्तिम परिणाम घोर कष्टकर दुःख होता है। फिर इन्हें सुख कहा ही कैसे जाय? यह तो मनुष्य का अज्ञान और मोह ही है जो इनमें सुख की प्रतीति कराने लगता है। वास्तव में यह मनुष्य का भ्रम है और यही भ्रम उसे घोर दुःखजनक तथाकथित सुखों के पीछे दौड़ने को विवश कर देता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि सुख तो जीव के भीतर से ही उदित होने वाला एक तत्त्व है और उसका आभास भी कहीं किसी बाह्य पदार्थ में नहीं हो सकता। अपने से बाहर सुख की खोज करने वाले प्राणी की स्थिति तो उस मृग की सी है जो अपनी नाभि में बसी कस्तूरी की मादक गन्ध से चंचल होकर उस सुगन्धित पदार्थ को प्राप्त करने के लिए—‘फिर-फिर सूँघे घास’ की अवस्था में रहता है। आवश्यकता सुख के स्वरूप को समझने की है। सारे भ्रम फिर दूर हो जायेंगे, भ्रान्तियाँ कट जायेगी और सुख के छलावों से मन मुक्त हो जायगा।

बाहरी पदार्थों में सुख का अनुभव करने वाले जन इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले सुखोपभोग की लालसा ही रखते हैं। ये सुख न केवल क्षणिक अपितु वास्तव में अन्ततोगत्वा दुःखरूप में परिणत होने वाले भी होते हैं। वे स्वयं सुख नहीं हैं। वे तो ऐसे साधन हैं जो किसी एक व्यक्ति के लिए सुख तो उसी समय किसी अन्य व्यक्ति के लिए दुःख के कारण होते हैं। जब एक ही साधन या कार्य सुख भी उत्पन्न कर रहा है और दुःख भी, तो सच्चे सुख का कारण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार ये साधन तो इतने क्षीण और चंचल हैं कि एक ही व्यक्ति के लिए जो कभी सुखकर होते हैं अन्य अवसरों पर वे ही दुःख के कारण भी बन जाते हैं। सन्तान का ही उदाहरण लीजिए। परिवार में शिशु की किलकती हँसी से

सभी प्रसन्न हो जाते हैं, कुलदीपक की उपस्थिति से माता-पिता का मन हर्षित, उल्लसित और गर्वित रहता है। सन्तान सुख का कारण है। किन्तु यही पुत्र बड़ा होकर जब कुकर्मी निकल जाता है, कुल को बट्टा लगाता है, अभिभावकों का मस्तक लज्जा से नत होने लगता है—तो दुःख का कारण भी बन जाता है। सच्चा सुख तो सभी के लिए और सभी परिस्थितियों में सुख ही बना रहता है। वह कभी दुःख का रंग धारण कर ही नहीं सकता। बाहरी पदार्थों से जिन सुखों की प्राप्ति की कल्पना की जाती है, उनमें यह गुण नहीं होता। अतः उन्हें सुख कहा ही नहीं जा सकता। सुख की खोज मनुष्य का स्वभाव है—यह सत्य है। इस खोज में व्यग्र मन इन बाहरी वस्तुओं में सुख का अनुभव कर भटक जाता है। उसे क्षणिक सन्तोष होने लगता है कि सुख मिल गया, किन्तु इस सीमा तक तो उसकी खोज सफल नहीं होती। उसे ऐसा सुख नहीं मिलता जिसके छोर पर दुःख की स्थिति न हो। सच्चे सुख को बाहरी किसी वस्तु के आधार की अपेक्षा नहीं होती। न अर्थ सुख का साधन है, न काम सुख का साधन है, वास्तविकता तो यह है कि 'इच्छाओं का निरोध' ही सुख का मूलाधार है। अभाव यदि दुःख का कारण है तो अभाव को दूर करने के लिए अमुक वस्तु की प्राप्ति की इच्छा होगी। यही इच्छा दुःख का मूल कारण बनती है। यदि यह इच्छा पूर्ण हो जाती है और अमुक वस्तु उपलब्ध हो जाती है, तो मनुष्य इस पर सन्तोष नहीं करता। वह उससे अधिक, और अधिक की इच्छा करने लगता है। परिणामतः इच्छा पूरी होकर भी सन्तोष प्रदान करने की क्षमता नहीं रखती। इससे तो चित्त में विचलन, अशान्ति और असन्तोष ही जन्मते हैं, जो दुःखरूप में परिणत होते हैं। ऐसी दशा में अहितकारिणी—

“इच्छा” का निरोध सुख लाभ के लिए अत्यावश्यक है। यह निरोध अगाध शान्ति और सन्तोष से मन को पूरित कर देता है और ऐसे ही वातावरण में सुख का पदार्पण सम्भव है। इस वास्तविकता को समझे बिना, अपने से बाहर जगत के विषयों और पदार्थों में सुख का आभास पाने वाले भ्रमित जन न्याय-अन्याय का विचार किये बिना अधिक से अधिक मात्रा में ऐसे सुख को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। दुःख को सुख समझकर उसका वरण करने की स्पर्धा में ही पीढ़ियाँ व्यस्त रहती हैं। यही कारण है कि संसार में दुःख है। जब तक यह भ्रम बना रहेगा तब तक दुःख का अस्तित्व भी बना रहेगा। जो जब तक इन कथाकथित बाह्य सुखों को सुख मानता रहेगा, तब तक वह दुःखी बना रहेगा। वस्तुस्थिति यह है, कोई भी बाह्य पदार्थ न तो स्वयं सुख है और न ही वह किसी सुख का साधन है। सुख तो आभ्यन्तरिक वस्तु है, आत्मा का गुण है। हाँ, जीव का स्वभाव यह सुख है, जो वास्तव में भीतर ही उत्पन्न होता है प्रायः बाहरी किसी पदार्थ का सहारा लेता है और अबोध मनुष्य अज्ञानवश उन्हीं पदार्थों को सुख के आधार मान लेता है। देहगत विकारों की क्षणिक शान्ति को मनुष्य सुख रूप में जानता है, किन्तु वास्तव में वे सुख होते नहीं। वे तो विकारों के प्रतिकार मात्र हैं। भृत्-हरि की एक उक्ति से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है जिसका आशय है—‘जब प्यास से मुख सूखने लगता है तो मनुष्य सुगन्धित, स्वादु जल पीता है, भूख से पीड़ित होने पर शाकादि के साथ भात खाता है, कामाग्नि के प्रज्वलित होने पर पत्नी का आलिंगन करता है। इस प्रकार रोग के प्रतिकारों को मनुष्य भूल से सुख मान रहा है।’¹ दृष्टि को बाह्य से समेटकर अन्तर् की ओर मोड़ने

१ तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादुर्चितं क्षुधार्तः सन् शालीन् कवालयति शाकादिवलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिगति वधूँ प्रतीकारो व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः ॥

वाले मर्मज्ञ जन इस अन्तर से भली-भाँति अवगत होते हैं। वे जानते हैं कि ये बाहरी साधन दुःख-जनित चंचलता के प्रभाव को क्षणिक रूप से दुर्बल मात्र बनाते हैं, अन्यथा स्थायी सुख के प्रदाता ये नहीं हो सकते। भीतर से स्वतः विकसित होने वाले वास्तविक सुख को किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा रहती ही नहीं है।

ये आभास मात्र कराने वाले अवास्तविक सुख दुःखों को दूर नहीं कर पाते। और सुख के अनुभव के लिए यह अनिवार्य परिस्थिति है कि दुःख का सर्वथा प्रतिकार हो जाय।^१ सुख और दुःख दोनों एक साथ रह नहीं सकते। जब तक जीवन में दुःख है, सुख तब तक आ नहीं सकता और सुख की अवस्था में दुःख भी इसी प्रकार अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता है। दुःखों का अभाव हुए बिना सुख का आगमन सम्भव नहीं हो पाता। हमें सुख के भ्रम से मुक्त हो जाना चाहिए। सच्चे सुख तक पहुँचने के प्रयत्न हमें आरम्भ करने चाहिए। दुःख का उन्मूलन इसके लिए आवश्यक है। धन और काम की असीम और नियन्त्रणहीन अभिलाषाएँ मनुष्य के जीवन को दुःखमय बनाये हुए हैं, क्योंकि वे धर्म-संयुक्त नहीं हैं। मनुष्य की इच्छाएँ यदि मर्यादित और धर्मयुक्त हों, तो स्वयं उसका जीवन तो सुखी होगा ही, उसका जीवन अन्य जनों के लिए भी सुखदायी हो जायगा। धर्म हमारी असीम इच्छाओं को नियन्त्रित कर, हमें पूर्ण सुखी बनाता है। वास्तविक सुख अनन्त है, असीम है, स्थायी है और इसकी परिणति कभी भी दुःख के रूप में नहीं होती। यही सुख की स्थिति 'मोक्ष' है। इसी स्थिति को प्रत्येक सज्जन मनुष्य अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। यही मानव-जीवन का परम और लक्ष्य हुआ करता है। यह मानना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि मोक्ष केवल मानव योनि में ही सुलभ हो सकता है, अतः यह देह धारण कर इसे ही मूल गन्तव्य और मन्तव्य

मानना प्रत्येक मनुष्य का प्रधान दृष्टिकोण होना चाहिए। मानव-जीवन इस चरम सुख की उपलब्धि से ही सार्थक होता है।

मोक्ष-प्राप्ति कैसे ? : जैन दृष्टिकोण

प्रत्येक जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उद्बुद्ध होता है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। जब हम यह जान जाते हैं कि जिन सांसारिक सुखों के पीछे हम अब तक भागते रहे हैं वे असार हैं, सुखाभास मात्र हैं, वास्तविक सुख नहीं हैं और मोक्ष ही सच्चा और अनन्त सुख है, इसी मंजिल के लिए यह जीवन हमने धारण किया है तो उस मोक्ष को प्राप्त करने की लालसा का बलवती हो जाना अस्वाभाविक नहीं। असंख्य जीवन धारण कर चुकने के पश्चात् यह मूल्यवान जीवन जब सुलभ होता हो, तो इसे कौन व्यर्थ ही नष्ट कर देना चाहेगा। यही कारण है कि सुखकामी मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति का उपाय जानने और उसे अपनाने के लिए उत्सुक रहता है। यह औत्सुक्य, यह जिज्ञासा ही किसी मोक्षाभिलाषीजन की प्रथम पहचान हो सकती है।

संकेत रूप में इस बात की चर्चा हो ही चुकी है कि यह 'धर्म' ही है, जो मनुष्य को अनन्त सुख की उपलब्धि कराने की क्षमता रखता है। धर्म उस नौका के समान है जो मनुष्य को दुःख की उत्ताल तरंगों से भरे समुद्र को पार कर, मिथ्या सांसारिक सुखों की चट्टानों से बचाता हुआ मोक्ष के अनन्त सुखमय उस पार तक पहुँचा देता है। 'धर्म' को समझने के लिए इसके प्रायः ३ विभाग कर लिये जाते हैं—

- (१) सम्यग्दर्शन
- (२) सम्यक्ज्ञान और
- (३) सम्यक्चारित्र

इन तीनों के संयोग से ही धर्म का समग्र स्वरूप खड़ा होता है। आचार्य समन्तभद्र की उक्ति इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है—

१ 'तत्सुखं यत्र नासुखम्'

५४० कुसुम अभिनन्दन ग्रन्थ : परिशिष्ट

“धर्म के प्रवर्त्तक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहते हैं, जिनके उलटे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संसार के मार्ग हैं।”¹

इन संसारी मार्गों से छूटकर, दृढ़तापूर्वक धर्म में प्रवृत्त होना मुमुक्षु के लिए अत्यावश्यक है। इस धर्माचरण का प्रथम सोपान सम्यग्दर्शन है। इस सिद्धि के बिना आगामी दो सोपानों को अपनाना असंभव सा रहता है।

सम्यग्दर्शन का भाव है आत्मज्ञान—स्वयं को, आत्मा को पहचानना। मोक्ष तो आत्मा का सुख है और वह किसी बाहरी पदार्थ की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसी स्थिति में प्रथमतः उस आत्मा के स्वरूप से परिचय स्थापित कर लेना अत्यावश्यक रहता है। सत्य और मिथ्या में भेद करने की क्षमता का विकास आवश्यक है। अन्यथा हमारी साधना मिथ्या की ओर ही उन्मुख रह जाय, सत्य की ओर हमारा ध्यान जाये ही नहीं—ऐसा होने की आशंका बनी रहती है। हम क्या हैं? संसार की जिन परिस्थितियों और पदार्थों के मध्य हम हैं—वे क्या हैं? जब तक इसका विवेक विकसित न हो, हम त्याज्य और ग्राह्य में अन्तर नहीं कर सकते हैं। आत्मा का बाह्य पदार्थों से छुटकारा मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। यह तभी संभव है, जब हम यह स्पष्टतापूर्वक समझ लें कि जिसका छुटकारा कराना है वह आत्मा है क्या? और इसी प्रकार यह जानना भी आवश्यक है कि जिनसे छुटकारा पाना है, वे पदार्थ कैसे हैं, क्या हैं? स्वर्ण की खान से निकला पिंड शुद्ध स्वर्ण नहीं होता। उसमें अशुद्धियाँ मिश्रित होती हैं। शोधन करने वाले के लिए यह आवश्यक होता है कि वह स्वर्ण क्या होता है, इसे भली-भाँति पहचान सके। साथ ही स्वर्ण के साथ मिली रहने वाली अशुद्धियों का ज्ञान भी उसे होना चाहिए। तभी वह उपयुक्त

विधियाँ प्रयुक्त कर अशुद्धियों को दूर कर सकता है और खरा स्वर्ण पिंड प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध रूप क्या है और इसके साथ लगे रहने वाले विकार क्या हैं? यह जाने बिना व्यक्ति आत्मा को विकारमुक्त, शुद्ध नहीं कर सकता।

एक और भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मुमुक्षु के लिए इस तथ्य में अचल और अमर आस्था, पक्का विश्वास होना आवश्यक है कि—

“ज्ञान-दर्शनमय एक अविनाशी आत्मा ही मेरा है। शुभाशुभ कर्मों के संयोग से उत्पन्न शेष समस्त पदार्थ बाह्य हैं—मुझसे भिन्न हैं और वे मेरे नहीं हैं।”²

शुभाशुभ कर्मों द्वारा जनित उन पदार्थों से ममत्व त्यागना आवश्यक है जो हमारी आत्मा से जुड़ गये हैं। ममत्व को त्यागे बिना उनसे उबरना संभव नहीं है। आत्मा का इनसे छुटकारा करने की दिशा में यह अत्यावश्यक है कि जहाँ हम आत्मा और इन शुभाशुभ (त्याज्य) कर्मों को पहचानें वहाँ यह भी परमावश्यक है कि हमें इस सिद्धान्त में पक्की आस्था हो कि केवल आत्मा ही हमारी है, शेष बाह्य पदार्थ हमारे नहीं हैं और इनसे छुटकारा पाना है। जब तक यह आस्था न होगी, हम छुटकारे के प्रयत्नों में दृढ़ता के साथ प्रवृत्त नहीं हो सकेंगे। यदि अधूरी आस्था में हम प्रयत्न आरम्भ करेंगे भी, तो वह मात्र दिखावा होगा और वे प्रभावी नहीं हो सकेंगे। इस विषय में जो शंकाएँ मन में आयें उन्हें पहले ही दूरकर दृढ़ आस्था विकसित करना ही वास्तव में सम्यग्दर्शन है। इसी के अनन्तर मुक्तिपथ पर अग्रसर हुआ जा सकता है। आत्मा के स्वरूप की वास्तविकता को पहचानना और उस पर दृढ़ हो जाना आवश्यक है। शरीर और आत्मा में अभेद स्थिति को मानना अर्थात् जो यह शरीर है वही आत्मा

१ सदृष्टिज्ञानन्नतानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीय प्रत्यनोकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

२ एगो मे सस्सदो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥

है—ऐसा मानना मिथ्या है। इस मिथ्या से मुक्त होकर तथा आत्मतत्त्व को पहचान कर उससे विचलित न होना ही परम पुष्टार्थ मुक्ति की प्राप्ति का उपाय है।^१

जैनदर्शनानुसार मुक्ति के लिए जिन तत्त्वों का निर्धारण है—उन पर दृढ़ आस्था सम्यग्दर्शन है। और उन तत्त्वों की पहचान, उनका यथोचित ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। सम्यक्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के अभाव में मोक्ष-मार्ग की यात्रा संभव नहीं है। यदि इस अभाव में भी कोई यात्रारम्भ कर देगा, तो निश्चित रूप से वह भटक जायगा, पथच्युत हो जायगा। लक्ष्य तक पहुँचना उसके लिए सम्भव होगा ही नहीं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति 'सम्यक्दृष्टि' के विशेषण से विभूषित होता है। उसकी यह योग्यता मोक्षमार्ग से उसे न भटकने देती है, न विचलित होने देती है और क्रमशः वह सफलता की ओर अग्रसर होता रहता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान मोक्ष-मार्गों के लिए मार्गदर्शक और प्रेरक बने रहते हैं, कर्णधार की भाँति समय-समय पर उचित दिशा का संकेत करते रहते हैं, सही मार्ग पर आगे से आगे बढ़ाते रहते हैं।

सम्यग्दर्शन के अंग

विभिन्न अंगों के सामंजस्य से जैसे देह अपना आकार ग्रहण करता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन भी अपने अंगों के समन्वय का ही प्रतिफल है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। जैसी कि पहले ही चर्चा की जा चुकी है, मोक्ष-मार्ग की सार्थकता और तात्त्विक विवेचन पर व्यक्ति का अटल विश्वास होना चाहिये। उसके मन में कोई दुविधा नहीं रहनी चाहिये। यह मार्ग सार्थक है या नहीं, अथवा इस मार्ग से सफलता मिलेगी या नहीं ऐसी मानसिक दशा मोक्ष-मार्ग की यात्रा के प्रतिकूल रहती है। अर्द्ध ज्ञान से प्रायः ऐसी मनोदशा रहती है अतः

स्पष्ट ज्ञान प्राप्त कर आस्था को सुदृढ़ और मन को निःशंक करना अनिवार्य है। यह निःशंकता सम्यग्दर्शन का प्रथम एवं सर्वप्रमुख अंग है। शंका की अवस्था में आस्था का अटल होना संभव नहीं होता।

निष्कामता सम्यग्दर्शन का दूसरा अंग है। सांसारिक सुख-वैभव, विषयादि की समस्त कामनाओं का सर्वथा परित्याग करना भी अनिवार्य है। अभिलाषाओं से भरा मन चंचल रहता है और चंचलता इष्ट मार्ग पर अग्रसर होने में व्यवधान उपस्थित करती है। कामनाओं से ग्रस्त मनुष्य का लक्ष्य भी स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यादि तक ही सीमित रह जाता है। वह इन्हीं विषयों में मग्न हो जाता है और सर्वोपरि लक्ष्य से उसका ध्यान विचलित ही जाता है। ऐसी दशा में उसका मार्ग-भ्रष्ट हो जाना सर्वथा स्वाभाविक ही है। अस्तु, मोक्ष के अभिलाषीजन के लिए निष्काम होना अनिवार्य है।

सम्यग्दर्शन के तीसरे अंग के अन्तर्गत मनुष्य के ग्लानिभाव का निषेध किया गया है। इस जगत में अनेक धनहीन रंक हैं, अनेक रोगी और दुःखी हैं। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति ऐसे दीन-हीन और दुःखित जनों के प्रति उपेक्षा या ग्लानि का भाव नहीं रखता। मनुष्य की जो भी दशा है उसके पूर्वकर्मों के प्रतिफल के रूप में ही होती है। कर्मों के क्रम परिवर्तन के साथ ही इन दशाओं में भी परिवर्तन हो जाता है। घृणा करने वाला स्वयं यह नहीं जानता कि आगामी समय स्वयं उसका क्या रूप बना देगा ? जो आज सम्पन्न है वह कल विपन्न भी हो सकता है और जो आज रोगी है वह भी कल स्वस्थ हो सकता है। सम्यग्दृष्टि जन व्यक्ति की इन दशाओं पर नहीं, अपितु केवल उसके गुणों पर ही ध्यान देते हैं।

सम्यग्दर्शन का चौथा अंग इस बात का संकेत करता है कि किसी भी दशा में मनुष्य को बुरे

१ विपरीताभिनवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् । यत्तस्मादविचलनं स एव पुष्टार्थसिद्ध युपायोऽयम् ॥

और बुराई का समर्थन नहीं करना चाहिए। ऊपरी मन से अथवा किसी दबाव के कारण भी यदि वह अवगुणों अथवा कुमार्ग का प्रशंसक हो जाता है, तो धीरे-धीरे वह ऐसा अभ्यस्त हो जाता है कि दबाव न होने की स्थिति में भी वह बुरे की प्रशंसा ही करने लग जाता है। वस्तुतः उसे तब बुरे में कोई बुराई दिखाई ही नहीं देगी। परिणामतः स्वयं उसका आचरण भी वैसा ही (बुरा) होने लग जाता है। बुराई का समर्थन इस प्रकार मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है। बुराई के झूठे समर्थन से भी संसार में उसका प्रसार और शक्ति बढ़ती है। कुमार्ग भी क्षणिक आकर्षण तो रखते ही हैं। मनुष्य को चाहिए कि वह इस चेटक से स्वयं को अप्रभावित रखे और किसी बुराई को अपने पर हावी नहीं होने दे।

जहाँ चौथा अंग बुराई के प्रसार पर रोक लगाता है, वहाँ सम्यग्दर्शन का पाँचवाँ अंग सन्मार्ग के अधिकाधिक प्रसार की प्रेरणा देता है। मनुष्य को चाहिए कि सन्मार्ग की खूब प्रशंसा करे। उसे स्वयं भी सन्मार्गी होना चाहिए और उसे दूसरों को भी ऐसा बनने की प्रेरणा देनी चाहिए। जब कभी सन्मार्ग या अच्छाइयों की निन्दा हो तो उसे उसका प्रतिकार करना चाहिए। अबोधजन अथवा दुर्जन ऐसा व्यवहार कर सकते हैं किन्तु सम्यक्दृष्टि जन सदा निर्भीकता के साथ उनका विरोध करते हैं। इस प्रकार लोक में सन्मार्ग का रक्षण करना सम्यग्दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

इसी से सम्बद्ध छठा अंग है कि जब कभी मनुष्य स्वयं अथवा कोई अन्य जन सन्मार्ग से च्युत हो रहा हो, तो उसे चाहिए कि उसे दृढ़ बनावे। सन्मार्ग न छोड़ने को प्रेरणा देना और स्वयं भी सन्मार्गी बने रहना इस अंग के अन्तर्गत मनुष्य का कर्तव्य है।

सम्यग्दर्शन का सातवाँ अंग धर्म के आन्तरिक पक्ष की दृढ़ता के लिए है। इसके अनुसार व्यक्ति

को अपने सहधर्मी सहयोगियों के प्रति अतिशय स्नेह रलना चाहिए। यह पारस्परिक स्नेह सभी के मन में धर्म के प्रति रुचि को प्रगाढ़ बनाता है और अन्य जन इस मृदुल व्यवहार एवं स्नेहसिक्त वातावरण से प्रभावित होकर प्रेरणा ग्रहण करते हैं। धर्मानुयायियों के साथ-साथ धर्म के प्रति भी श्रद्धा और स्नेह का भाव होना अनिवार्य है।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन का आठवाँ और अन्तिम अंग धर्म के विकास और उसकी विशेषताओं के प्रचार-प्रसार से भी सम्बन्धित है और और अन्य जनों को मिथ्यात्व से मुक्त कर मुधर्म में प्रवृत्त करने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति को जनसाधारण में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर कर पवित्र, अहिंसामय धर्म का अधिकाधिक प्रसार करने में व्यस्त रहना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जन धर्म के विकास में अपना विनीत योगदान करते रहते हैं। ऐसे जन धर्म और धर्मानुयायियों में अन्तर नहीं करते। धर्म-प्रेम और धार्मिकों के प्रति प्रेम दोनों परस्पर पर्यायरूप में होते हैं। धार्मिकों का सम्मान करने से ही धर्म का सम्मान किया जा सकता है। धर्म तो सूक्ष्म रूपधारी होता है। उसका यत्किंचित् व्यक्त स्वरूप धर्मानुयायियों के रूप में ही हमारे समक्ष आ पाता है। सम्यक्दृष्टि जन अत्यन्त कोमल व्यवहार वाले और विनम्र होते हैं। उन्हें अपने तप, साधना, अर्जित क्षमता, उच्चता, वंश, यश आदि का कोई अहं नहीं होता। अहं तो तब आता है, जब व्यक्ति अपने को उच्च और अन्य जनों को इस अपेक्षा में निम्न मानने लगता है। सम्यक्दृष्टि जन ऐसा व्यवहार नहीं करते।

यह सम्यग्दर्शन स्वतः मोक्ष नहीं है। मोक्ष के मार्ग का अनुसरण करने के लिए यह आवश्यक तैयारी मात्र है। यह वह भूमिका है, जिसके पश्चात् धर्माकुरण सम्भव हो पाता है। यह व्यवहार व्यक्ति को मोक्ष-मार्ग का पथिक बनने की

अपेक्षित शक्ति देता है और अनुकूल वातावरण तैयार करता है। ज्वलित-दुखित जगत के मध्य रहकर भी सम्यग्दर्शन का पालनकर्ता अद्भुत शान्ति का अनुभव कर सकता है।

सम्यक्चारित्र

चारित्र या आचरण मनुष्य की गतिविधियों का समुच्चय है। मनुष्य की ये गतिविधियाँ उचित भी होती हैं और अनुचित भी। अनुचित गति-विधियों से मनुष्य स्वयं के लिए भी कष्टकर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देता है और समाज के लिए संकट भी। ऐसी स्थिति में मनुष्य के आचरण पर अंकुश होना ही चाहिये। धर्म ही ऐसे नियन्त्रण की क्षमता रखता है। आज जब समाज में विभिन्न स्तरीय विषमताओं का साम्राज्य है—इसकी और भी अधिक आवश्यकता अनुभव होती है। व्यक्ति स्वसुख के लिए स्वार्थवश पर-दुखकारी बन जाता है। मनुष्य में इस विकृति की और समाज में विषमता की—दोनों की उत्पत्ति एक ही साथ हुई और समानान्तर रूप से दोनों का साथ साथ ही विकास भी हुआ है। जब मनुष्य का स्वार्थ बढ़ता है, तो विषमता भी विकसित होती है और विषमता के साथ-साथ स्वार्थ की भावना बलवती होती चली जाती है। इस प्रकार ये दोनों विकार परस्पर पोषक हैं। जैनधर्म के आदिकाल में कोई विषमता नहीं थी, परिणामतः मानव-जाति सर्वथा विकारशून्य, निरीह और निश्छल थी। वह वर्तमान अवसर्पिणी काल के आरंभ का समय था। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के कुछ समय पूर्व तक का काल बड़ा सुखमय और शान्तिपूर्ण था। तब इस 'भोग भूमि' पर सभी सुखी थे। किसी को कोई कष्ट न था। बिना श्रम किये ही सब को सभी उपभोग्य सामग्रियाँ स्वतः ही उपलब्ध हो जाती थीं। किसी को उनके संचय का लोभ भी नहीं था। न कोई विपन्न था और न ही कोई सम्पन्न। विषमता का लेशमात्र भी नहीं था। प्रकृति के विपुल भण्डार से सभी को यथोचित

साधन सामग्री प्राप्त होती रहती थी। सभी संतुष्ट और परम सुखी थे।

परिवर्तनशील समय परिस्थितियों को सदा एक सी कहाँ रखता है? प्रकृति के भंडारों में अभाव आने लगा। उपभोग्य सामग्री की सुलभता में व्यवधान आना भी स्वाभाविक था। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की मनोवृत्ति में परिवर्तन आया। संकट का अनुभव उसे आरम्भिक रूप से होने लगा था। उसकी सन्तोष की मनोवृत्ति समाप्त होने लगी। आज की क्षुधा मिटने मात्र से उसे सन्तोष नहीं होता—वह तो कल की भी चिन्ता करने लगा। परिणामतः उसके मन में लोभ की दुष्प्रवृत्ति जगी। वह साधनों का संग्रह करने लगा। शक्तिशाली लोग अधिक संग्रह कर लेते और दुर्बलजन साधनहीन होने लगे। और यों समाज में असमानता और विषमता अंकुरित होने लगी। स्थिति यही नहीं रही, अपितु उसने अपराधों को भी जन्म दिया। साधनहीनों ने साधन-गम्पन्नो के पास से बलपूर्वक साधनों को छीनने का प्रयत्न भी किया और समाज में अशान्ति व्याप्त होने लगी। यदि साधनहीन दुर्बल हुए तो साधनों की चोरी करने लगे—इस प्रकार एक और बुराई उत्पन्न हुई। क्रमशः ये बुराइयाँ कई गुनी अधिक बढ़ती गयीं और समाज क्या से क्या हो गया।

ऐसे अराजकता और अशान्तिपूर्ण समाज पर नियंत्रण आवश्यक होता है। दुःखित जनों के दुःखों को दूर करना भी आवश्यक है। आवश्यकता इस बात की थी कि भोग की प्रवृत्ति को छोड़कर मनुष्य उद्यम में प्रवृत्त हो। मनुष्य द्वारा उत्पादन करना ही समस्या का रचनात्मक समाधान था। साधनों के अभावों को श्रम द्वारा स्वयं मनुष्य दूर कर सके—इस दिशा में कुशल मार्गदर्शन अपेक्षित था। ऐसे ही समय में आदिनाथ भगवान ऋषभदेव का जन्म हुआ था। भगवान ने कृषि, शिल्प, व्यापारादि करना सिखाया और अभाव की समस्या का निदान आरम्भ हुआ। व्यक्ति श्रमशील होने

लगा। उत्पादन द्वारा आवश्यकतानुरूप सामग्री उपलब्ध होने लगी, किन्तु मनुष्य के चरित्र में जो विकार आ गये थे, उन्हें भी दूर करना आवश्यक था। इसके बिना विषमता को दूर करना और शान्ति स्थापित करना सम्भव नहीं था। भगवान ने मानव जाति पर यह उपकार भी किया। उन्होंने मनुष्यों को अहिंसात्मक आचरण का उपदेश दिया और अहिंसा को ही धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। भगवान ने इस अहिंसाधर्म के समग्रतः पालन के पक्ष में सहायक तत्त्वों—सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का उपदेश दिया। तब से अहिंसा सहित ये चार तत्त्व अर्थात्—ये पांच यम जैनधर्म का मूल आचार हो गया। क्रमशः इसमें विकास होता रहा और इसके प्रचार-प्रसार में अन्य तीर्थकरों का महत्त्वपूर्ण योगदान भी होता रहा।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का पालन जैनाचार का मूल रूप है। सभी जैन-धर्मानुयायी अनिवार्यतः इस आचार का पालन करते हैं। यह मात्र मुनिजनों के लिए नहीं। हाँ, गृहस्थों और विरक्त मुनियों द्वारा पालन किये जाने वाले आचार में परिमाण का अन्तर हो सकता है। इसी दृष्टि से यह माना जाता है कि इस निर्धारित जैनाचार का गृहस्थजन एकदेश से और मुनिजन सर्वदेश से पालन करते हैं। चारित्र एक व्यापक पारिभाषिक शब्द है। इसके अन्तर्गत मनुष्य की समस्त सूक्ष्म गतिविधियाँ भी परिगणित होती हैं। मनुष्य जो कुछ उच्चारित करता है, यही नहीं अपितु वह जो कुछ सोचता है—वह भी उसकी गतिविधियों में सम्मिलित होता है और ये सारी गतिविधियाँ चारित्र के अन्तर्गत आ जाती हैं। मन, वचन और काया की समस्त क्रियाएँ चारित्र की परिधि में आती हैं। वस्तुतः मनुष्य का जो चारित्र है, वही वह स्वयं है, वही उसका व्यक्तित्व है। चारित्र के आधार पर ही उसका मूल्यांकन होता है कि वह भला है या बुरा,

सज्जन है या दुर्जन, धार्मिक है या अधार्मिक आदि। चारित्र के अनुसार ही यह भी ज्ञान किया जा सकता है कि कौन किस का मित्र अथवा शत्रु है? इसी प्रकार चारित्र ही किसी व्यक्ति को प्रतिष्ठित और उच्च भी बना सकता है और यही किसी का पतन भी कर सकता है।

चारित्र दो प्रकार का होता है। कुछ करना चारित्र के अन्तर्गत आता ही है, किन्तु साथ ही साथ कुछ कामों का न किया जाना भी चारित्र का ही अंग है। अच्छे कामों का किया जाना जितना महत्त्वपूर्ण है, अशुभ कार्यों का न किया जाना भी मनुष्य की सज्जनता के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है। यह कहा जा सकता है कि चारित्र के दो प्रकार हैं—प्रवृत्तिमूलक चारित्र और निवृत्तिमूलक चारित्र। यहाँ यह विचारणीय है कि मनुष्य अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के कार्यों में प्रवृत्ति रख सकता है। इसी प्रकार उसकी निवृत्ति का सम्बन्ध भी अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कार्यों से हो सकता है। आदर्श चारित्र से अनुरूप व्यक्ति को शुभ के प्रति प्रवृत्ति और अशुभ के प्रति निवृत्ति का भाव रखना चाहिए।

जैसा कि पूर्व में वर्णित किया जा चुका है, मनुष्य की समस्त गतिविधियों के तीन ही द्वार हैं—मन, वचन और काया। प्रवृत्ति के ये ही तीन साधन हैं। इन्हीं साधनों से मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति भी सम्भव है और अशुभ प्रवृत्ति भी। किसी के प्रति ईर्ष्या रखना, किसी के अहित की कामना करना आदि अशुभ मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकार किसी के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करना, कटुवचनों का उच्चारण करना आदि अशुभ वाचिक प्रवृत्तियाँ हैं। दूसरों के लिए कष्टप्रद कार्य करना, हिंसापूर्ण कार्य करना, दूसरों को हानि पहुँचाना आदि अशुभ कायिक प्रवृत्तियाँ हैं। यह सभी अशुभ प्रवृत्तियाँ त्याज्य समझी जानी चाहिये। इन्हीं द्वारों—मन, वचन और काया का सदुपयोग शुभ प्रवृत्तियों द्वारा किया जा सकता है। किसी के

प्रति मंगल कामना रखना, संसार भर के प्राणियों का हित-चिन्तन करना, सभी के लाभ की भावना रखना ऐसी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं, जो मानसिक हैं। इसी प्रकार सदा मधुर, प्रिय और कोमल वचनों का उच्चारण करना, वाणी द्वारा सभी के प्रति स्निग्ध व्यवहार रखना—वाचिक शुभ प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं। इसी प्रकार किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना, हिसामूलक कर्म न करना, किसी की हानि न करना आदि शुभ कायिक प्रवृत्तियाँ हैं। ये शुभ प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय होती हैं। इन शुभ प्रवृत्तियों के आधार पर ही मनुष्य की धार्मिकता का भी मूल्यांकन सामान्यतः हो जाया करता है। अशुभ के प्रति निवृत्ति का भाव रखने से शुभ के प्रति प्रवृत्ति का भाव बलवान बनता है।

किसी कार्य को ऊपर-ऊपर से देखकर ही सहजतः उसके शुभ अथवा अशुभ होने का निर्णय कर लिया जाता है, किन्तु यह भ्रामक होता है। कभी कभी कार्य ऊपर से अशुभ दिखायी देता है, किन्तु वास्तव में वह होता शुभ है। निरीह पशुओं को निर्भयता के साथ पीटना, शस्त्रास्त्र के प्रयोग द्वारा उनके शरीर को क्षत-विक्षत कर देना—किसी भी स्थिति में मनुष्य की शुभ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कोई शल्य चिकित्सक पैसे उपकरण गाड़कर रोगी के अंगों को जब चीर-फाड़ देता है तो स्थिति तनिक भिन्न रहती है। रोगी को कष्ट हुआ, इस भयंकर कष्ट का कारण भी चिकित्सक का कर्म ही है। किन्तु चिकित्सक का यह कर्म अशुभ नहीं है। कारण यह है कि चिकित्सक के इस कर्म के पीछे कोई अशुभ मंतव्य नहीं है। वह रोगी को रोग-मुक्त करना चाहता है और इसी उद्देश्य से वह चीर-फाड़ कर रहा है। चिकित्सक का कर्म अन्य जन (रोगी) के लिए प्रत्यक्षतः पीड़ा का कारण होते हुए भी अशुभ नहीं कहा जा सकता।

भाव यह है कि केवल प्रत्यक्ष स्वरूप मात्र से किसी कार्य के शुभाशुभ का निर्णय नहीं किया जा

सकता। निर्णय के लिए कसौटी तो कर्त्ता का मंतव्य ही है। शुभ मंतव्य ही कार्य को शुभ बनाता है, चाहे कार्य अशुभवत् दिखायी देता हो। इसके विपरीत अत्यन्त शुभ दिखायी देने वाला कार्य भी यदि बुरे उद्देश्य से किया जा रहा है तो वह शुभ नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए, ठग मीठी-मीठी बातें करे, ग्राहक के लिए लाभ का सौदा दिखाये, उसके लिए हितैषी जैसा बना रहे, तो उसका यह व्यवहार बुरे इरादे से होने के कारण शुभ नहीं हो सकता। आखेटक दाना डालकर पक्षियों को एकत्रित करता है। पक्षियों को दाना डालना शुभ लगते हुए भी शुभ इस कारण नहीं है कि अन्ततः वह पक्षियों को अपने जाल में फँसा लेना चाहता है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या किसी कार्य के शुभाशुभ का निर्णय उस कार्य के परिणाम के आधार पर किया जा सकता है? नहीं, ऐसा करना भी भ्रामक ही होगा। उदाहरण के लिए, शल्य चिकित्सा के परिणामस्वरूप यदि रोगी रोगमुक्त होने के स्थान पर दुर्भाग्यवश मर जाता है, ऐसी स्थिति में क्या चिकित्सक का कार्य अशुभ कहा जायगा? नहीं, अशुभ नहीं कहा जा सकता। परिणाम तो संयोगवश कुछ भी हो सकता है, कार्य के पीछे कर्त्ता का जो भाव है वही हमारे लिए निर्णय की कसौटी होगी। अन्यथा, आखेटक के जाल फँसाने पर भी यदि सारे पक्षी उड़कर भाग जायँ और वह एक भी पक्षी को पकड़ न पाय, तो क्या आखेटक का कार्य शुभ हो जायगा? परिणाम चाहे कैसा भी घटित हो, कार्य के के आरम्भ में ही कर्त्ता के मंतव्य और भावना के अनुसार कार्य का शुभाशुभ रूप निश्चित हो जाता है। अस्तु, शुभ प्रवृत्ति के लिए मंतव्य एवं भावना का शुभ होना भी अत्यावश्यक है।

हमारे यहाँ निवृत्ति का बड़ा गुण गान किया गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रवृत्ति तुच्छ है। प्रवृत्ति भी महत्त्वपूर्ण है और यही प्रयत्नापेक्षित भी है। 'कुछ करना' प्रवृत्ति का ही

रूप है। मनुष्य सहजतः सुखकामी होता है और सुख की लालसा से ही वह प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख होता है। कुछ करने से ही कुछ प्राप्त होगा और कुछ न करने से कुछ भी प्राप्त होने को कोई सम्भावना नहीं होगी—सामान्यतः हमारी ऐसी धारणा रहती है। यही कारण है कि हम कर्म में प्रवृत्त होते हैं। साधारणजन अयथार्थ सुखों को सच्चा सुख मानकर उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रवृत्ति में लगते हैं। उन्हें वे सुख (तथाकथित) भले ही प्राप्त हो जायँ, किन्तु उनके अन्तिम परिणाम तो दुःख ही होते हैं। अतः उन्हें वास्तविक सुख की प्राप्ति प्रवृत्ति से नहीं हो पाती। इसमें दोष प्रवृत्ति का नहीं है। प्रवृत्ति का उद्देश्य यदि स्थायी, अनन्त वास्तविक सुख को मानकर, तदनु-रूप कार्य किये जायँ तो वैसा सुख-लाभ भी होता ही है। अतः प्रवृत्ति को निकृष्ट कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। प्रवृत्ति भी सुखदायी होती है, शर्त यही है कि उसके लिए सच्चे सुख का लक्ष्य निर्धारित किया जाय, उस लक्ष्य-प्राप्ति के योग्य प्रयत्न किये जायँ। हाँ, मिथ्या और अयथार्थ सांसारिक विषयों के लिए जो प्रवृत्ति है, वह अवश्य ही निकृष्ट और हेय है। प्रवृत्ति भी सच्चे सुख का एक मूलभूत आधार है अवश्य, किन्तु इस सम्बन्ध में भय यह बना रहता है कि किसी भी समय यह शुभ की सीमा रेखा लांघकर अशुभ रूप ग्रहण कर सकती है। अतः प्रवृत्तियों पर संयम के कठोर अंकुश की तीव्र आवश्यकता बनी रहती है। विचलन से प्रवृत्तियों का रूप और इससे लक्ष्य

के ही कुछ का कुछ हो जाने की आशंका बनी रहती है। अतः प्रवृत्ति में जागरूकता और शुभ के प्रति दृढ़ता का भाव अत्यन्त आवश्यक है। शुभ प्रवृत्ति सदैव प्रशंसनीय और हितकर रहती है।

निवृत्ति का जो गुण-गान किया जाता है वह भी व्यर्थ और आधारहीन नहीं है। निवृत्ति की महिमा यथार्थ में अत्युच्च है। यह अन्य बात है कि प्रवृत्ति के प्रति जितनी सुगमता के साथ मनुष्य आकर्षित हो जाता है उतनी सुगमता के साथ निवृत्ति के प्रति नहीं हो पाता। निवृत्ति दुष्कर है और अपेक्षाकृत कम आकर्षक है, किन्तु निवृत्ति से प्राप्त सुख अनन्त, स्थायी और यथार्थ सुख है। प्रवृत्ति का सुख, इसके विपरीत लौकिक, असार और अवास्तविक सुख है, वह समाप्य सुख है। मनुष्य का मन्तव्य स्थायी सुख होना चाहिए और उसकी प्राप्ति में निवृत्ति का रूप अधिक सहायक रहता है। वस्तुतः प्रवृत्ति (शुभ) और निवृत्ति दोनों परस्पर पूरक स्थान रखती हैं। मोक्ष की प्राप्ति में निवृत्ति का प्रमुख स्थान है, किन्तु कुछ-कुछ सहारा शुभ प्रवृत्तियों का भी होता अवश्य है। मात्र किसी एक से कार्य सधता नहीं। विचारकों की धारणा है कि मनुष्य को प्रवृत्ति मार्ग पर चलते हुए भी अपनी दृष्टि सदा निवृत्ति की ओर रखनी चाहिए। चारित्र के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दोनों ही रूपों का प्राणाधार अहिंसा है। सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इस महती अहिंसा के समर्थ और सक्षम रक्षक हैं।

